पीपल्स समाचार, भोपाल 6 OCT 2011

मप्र में बेटी बचाओ अभियान का शंखनाद-1

लोक कल्याणकारी राज्य की कसौटी है कन्या

मदनमोहन जोशी
jncancer@airtel.in

गरीब, पिछड़े, अशिक्षित परिवार अगर बेटी को बोझ मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं तो उनकी मजबूरी समझी जा सकती है लेकिन तथाकथित आधुनिकाएं और भद्रजन जब कन्या भ्रूण की बलि चढ़ाते हैं तथा बेटे के लिए तीर्थों में चक्कर काटते हैं तो चेतना सिहर उठती है। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस अल्ट्रसाउंड मशीन का ईजाद मनुष्य के कल्याण के लिए किया गया उसका बेजा इस्तेमाल आज भी गुप चुप किया जा रहा है।

'नारी एक ईश्वरीय उपहार है जिसे स्वर्ग के खो जाने के बाद विधाता ने उसकी क्षतिपूर्ति के लिए बनाया है।'

हमारा साहित्य स्त्रियों की इस प्रकार की स्तुतियों से भरा पड़ा है, वहीं उसकी वेदना को वाणी देने वालों की भी कमी नहीं है। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बड़ी भावुकता से एक जगह लिखा है- 'भारतीय नारी अब तक इतने आंसू बहा चुकी है कि उन सबको मिला दें तो एक नया महासागर बन जाएगा।' मैथिलीशरण गुप्त की यह पंक्ति तो हमें स्कूल के समय से रटी हुई है- 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आंखों में पानी।' लेकिन नारी की पीड़ा के कड़वे यथार्थ से विचलित होकर बीसवीं सदी की प्रखर लेखिका - विचारक सिमोन द बोऊआ; जॉ पाल सात्र की पत्नी ने इस तरह के तमाम उद्गारों को फिजूल बताया तथा तल्ख टिप्पणी करते हुए सारे पुरुष समाज से मुखातिब होते हुए सवाल दागा - 'मेरे औरत होने को मसला क्यों बनाते हो? सिर्फ यह बताओ कि औरत को बराबर का इंसान मानते हो या नहीं।'

उनकी इस गर्जना ने न सिर्फ पुरुष वर्ग को हतप्रभ किया बल्कि नारी मुक्ति आंदोलन का दुनिया भर में श्री गणेश कर दिया। इसके बावजूद सही अर्थों में नारी पूरी तरह पश्चिम में मुक्त नहीं हो पाई है। हमारे देश में अभी उसने अंगड़ाई भर ली है। बेटी और बेटे के बीच पिछले कुछ वर्षों में जो असंतुलन बढ़ा है वह इसका सबूत है कि पुरुष और स्त्री की बराबरी की मंजिल अभी भी बहुत दूर है। हैरानी की बात तो यह है कि एक तरफ पंचवर्षीय योजनाओं का जोर-शोर से क्रियान्वयन का सिलसिला चलता रहा और उसी के साये में सामाजिक असंतुलन, बेरोजगारी, भुखमरी और महंगाई का ग्राफ ऊपर उछलता गया। विकास के प्रतिमानों और जमीनी यथार्थ की बीच भिडंत दिन-ब-दिन तीखी होती जा रही है। कोख को लेकर कमोबेश यही हालत है।

अगर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की बहुचर्चित पंक्ति की तरफ लौटे तो यह सवाल पूछा जा सकता है कि मां के आंचल के दूध पर फिलहाल ज्यादा हक किसका है, बेटे या बेटी का? आंकड़े कुल मिलाकर बताते हैं कि बेटी को मां के आंचल का दूध बहुत कम मिल रहा है। शिक्षित, उच्च मध्य वर्ग, अमीर और अभिजात्य वर्गों में भी बड़े पैमाने पर बेटे की चाहत का पलड़ा बेटी की तुलना में ज्यादा भारी है। इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिकता की तमाम चमक-दमक के बावजूद मध्यकालीन मानसिकता किसी न किसी रूप में समाज को जकड़े हुए है। गरीब, पिछड़े, अशिक्षित परिवार अगर बेटी को बोझ मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं तो उनकी मजबूरी समझी जा सकती है लेकिन तथाकथित आधुनिकाएं और भद्रजन जब कन्या भ्रूण की बलि चढ़ाते हैं तथा बेटे के लिए तीर्थों में चक्कर काटते हैं तो चेतना सिहर उठती है। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस अल्ट्रासाउंड मशीन का ईजाद मनुष्य के कल्याण के लिए किया गया उसका बेजा इस्तेमाल आज भी गुप चुप किया जा रहा है। सरकारों ने इस दुरुपयोग पर बंदिशें सख्त कर दी हैं। इसके अच्छे नतीजे सामने आने लगे हैं जो स्वागतयोग्य हैं।

भारत के संविधान ने पुरुष और स्त्री को बराबर माना है। यही नहीं महिलाओं और बच्चों के कल्याण पर विशेष जोर भी दिया है। हमारे जितने भी समाज सुधारक और जन नायक हुए हैं उन सभी ने महिलाओं में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ ही उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा देने के लिए काफी जद्दोजहद की है। महात्मा गांधी ने महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता और लोकतंत्र में भागीदारी की आधारशिला रखी, वहीं स्वामी विवेकानंद ने भारत की प्रगति का मूल मंत्र स्त्री पुरुष की बराबरी की परिकल्पना में गूंथा। उनका कहना था कि जिस तरह कोई पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता उसी तरह देश और समाज की प्रगति में स्त्री और पुरुष दोनों की भागीदारी आवश्यक है। एक अन्य व्याख्यान में उन्होंने यहां तक कहा था कि 'स्त्री और पुरुष भारत माता की दो आंखें हैं। क्या हम एक आंख की ज्योति छीन कर प्रकाश की आराधना कर सकते हैं?' मुश्किल यह है कि समाज में बदलाव की रफ्तार अक्सर इतनी धीमी होती है कि ऊपर से कितना भी मुलम्मा चढ़ा दें, अंदर रूपांतरण इतना मंथर गति से होता है कि दोनों के बीच शायद ही किसी युग में पूरी संगति बैठ पाई हो। यही वजह है कि ऋग्वेद सहित शास्त्रों, पुराणों में देवी के रूप में स्त्री की वंदना की गई है जबकि सदियों तक वह दासी रही तथा सिलसिला पूरी तरह थमा नहीं है। हाल के वर्षों में महिलाओं के सशक्तिकरण की निःसंदेह उत्साहवर्धक शुरुआत हुई है। संसद और विधान सभाओं में एक तिहाई आरक्षण का नारा बुलंद हुआ है। काश, हमारे यहां की दम्पत्तियों के दिल में बेटी के लिए सौ प्रतिशत नहीं तो कम से कम पचास प्रतिशत आरक्षण हो, कोई भी मां बेटी पैदा करने से परहेज न करे बल्कि गौरव महसूस करे। एक ही डाल पर खिले दो फूलों में एक को गमले में सजायें और दूसरे को मसल दें, इस पर अब विराम नहीं लगाएंगे तो कब यह पुनीत घड़ी आएगी?

दरअसल भारत दोहरे दुष्चक्र का शिकार है। एक तरह आबादी में बेतहाशा इजाफा हो रहा है और दूसरी तरफ लिंगानुपात का गणित गड़बड़ाया हुआ है। यदि राष्ट्रसंघ द्वारा प्रकाशित 'मिसिंग, मेपिंग द एडवर्स चाइल्ड रेशो इन इंडिया' नाम की रपट को प्रामाणिक माना जाए तो भारत में बालकों के मुकाबले बालिकाओं की संख्या में गिरावट का चिंतनीय दौर वर्ष 1991 से शुरू होता है। वर्ष 1991 में प्रति हजार लड़कों की तुलना में लड़कियों की संख्या मात्र 915 थी। वर्ष 2001 में लड़कियों का अनुपात घटकर 865 रह गया जबकि यह कम से कम 940 से 950 होना चाहिए। इस अध्ययन का सबसे ज्यादा हैरानी पैदा करने वाला पहलू यह है कि गुजरात महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा जैसे सम्पन्न राज्यों में भी लड़कियों का अनुपात लड़कों की तुलना में घटा है। वर्ष 2011 में भी कमोबेश यही स्थिति आंकी गई है। ये आंकड़े इस धारणा का खंडन करते हैं कि आर्थिक प्रगति अपने आप सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं का परिष्कार करती है। सही परिवेश नहीं हो तो वह उन्हें विकृत ही करती है।

...जारी

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।)